पाठ्य पुस्तक विश्लेषण : कुछ शिक्षणशास्त्रीय तथा सामाजिक पहलू

❑ फिरोज अहमद, बीरेन्द्र सिंह रावत

पाठ्यपुस्तकें शिक्षा-दर्शन को तो प्रतिबिम्बित करती ही हैं, साथ ही ये शिक्षा-प्रणाली में प्रभावी सामाजिक मूल्यों को भी अभिव्यक्त करती हैं। शैक्षिक-प्रक्रिया में पाठ्यपुस्तकों का प्रकार्य एक-आयामी नहीं है जबकि बहुप्रचलित मान्यता के अनुसार पाठ्यपुस्तकें सीखने-सिखाने का साधन नहीं बल्कि साध्य हैं। यह एक प्रमाणिक तथ्य है कि बच्चों के मानस पटल पर पाठ्यवस्तु की छाप बहुत गहरी पड़ती है। इसलिए बहुधा पाठ्यपुस्तकों का वर्चस्वशाली मूल्यों को बनाये रखने के लिए उपयोग किया जाता है। यह लेख दिल्ली के स्कूलों की छोटी कक्षाओं में काम में ली जा रही पाठ्यपुस्तकों का अन्तर्वस्तु - विश्लेषण एवं मूल्य मीमांसा प्रस्तुत करता है।

भूमिका

प्रस्तुत विश्लेषण के लिए जिन दो पाठ्य-पुस्तकों को आधार बनाया गया है वे आर्य बुक डिपो, नई दिल्ली द्वारा प्रकाशित सामाजिक अध्ययन विषय की पहली और दूसरी कक्षा की पुस्तकें हैं । इनका पहला संशोधित संस्करण 1988 में प्रकाशित किया गया । इन पुस्तकों को दिल्ली सरकार के अन्तर्गत चलने वाले सर्वोदय विद्यालयों में पढ़ाया जा रहा है ।

यहां इस तथ्य का उल्लेख करना महत्वपूर्ण होगा कि राष्ट्रीय स्तर पर पहली तथा दूसरी कक्षाओं के लिए 'सामाजिक अध्ययन' नाम के किसी स्वतंत्र विषय की परिकल्पना नहीं की गई है । राष्ट्रीय शिक्षा नीति-1986 को ध्यान में रखते हुए मानव संसाधन विकास मंत्रालय ने जनवरी 1990 में प्रो. आर. एच. दबे की अध्यक्षता में प्राथमिक स्तर पर 'न्यूनतम अधिगम स्तर' निर्धारित करने हेतु एक समिति का गठन किया । इसकी रिपोर्ट वर्ष 1991 में राष्ट्रीय शैक्षिक अनुसंधान एवं प्रशिक्षण परिषद (एन.सी.ई.आर.टी.) द्वारा प्रकाशित की गई । इस रिपोर्ट में 'परिवेश को मनुष्य तथा प्राकृतिक व सामाजिक परिवेश की आपसी क्रिया-प्रतिक्रिया का एकीकृत परिणाम माना' गया है । यह रिपोर्ट पहली दो कक्षाओं में मौखिक मूल्यांकन की सिफारिश करती है जो कि शिक्षाशास्त्रीय दृष्टि से गुणात्मक शिक्षा की दिशा में उठाया गया कदम है। इसके बावजूद प्रकाशक का दावा है कि ये पुस्तकें 'नई शिक्षा पद्धति के नवीनतम पाठ्यक्रमानुसार'[1] तैयार की गई हैं । प्रकाशक का यह भी दावा है कि पुस्तकें 'राष्ट्रीय शैक्षिक अनुसंधान एवं प्रशिक्षण परिषद द्वारा प्राथमिक कक्षाओं के लिए निर्धारित किए गए नवीनतम पाठ्यक्रमानुसार'[2] तैयार की गई हैं ।

1. सामाजिक अध्ययन, भाग-1, (पु.1), मुख-पृष्ठ, आर्य बुक डिपो, नई दिल्ली, 1988
2. सामाजिक अध्ययन, भाग-2, (पु.2), प्राक्कथन, आर्य बुक डिपो, नई दिल्ली, 1988

इन पुस्तकों का विश्लेषण शिक्षणशास्त्रीय तथा सामाजिक पहलुओं को केन्द्र में रखकर किया गया है । शिक्षणशास्त्र (पेडॅगॉगि) तथा विषयवस्तु में संवाद का रिश्ता होता है । ये दोनों आयाम अन्त: क्रियात्मक रूप से सम्बद्ध रहते हैं तथा दोनों का अस्तित्व परस्पर स्वतंत्र नहीं है । जहां एक ओर विषयवस्तु पढ़ाए जाने के तरीकों को प्रभावित करती हैं, वहीं दूसरी ओर शिक्षण शास्त्र इस बात को प्रभावित करता है कि क्या पढ़ाया जाए ? क्या और कैसे पढ़ाया जाए यह इस बात पर निर्भर करता है कि कैसे समाज का स्वप्न लेकर ढाँचे तैयार किए जा रहे हैं ? 'सामाजिक स्वप्न तथा सिखाए जाने के तरीके, शिक्षणशास्त्र के साझा विश्लेषणात्मक घटक हैं (स्व-अनुदित) ।'[3] पाओलो फ्रेरे उत्पीड़ितों की मनुष्यता की पुनर्प्राप्ति के सामाजिक स्वप्न को केन्द्र में रखकर विचार करते हैं । इस स्वप्न को साकार करने के लिए वे उत्पीड़न और उसके कारणों को विषय वस्तु के रूप में तथा इस प्रकार की विषयवस्तु को जीवंत बनाने के लिए संवादात्मक शैली (डाइलेक्टिकल मेथडॅ) को तरीके के रूप में अपनाते हैं।[4] शिक्षणशास्त्र स्वयं एक सामाजिक उपक्रम (अन्डरटेकिंग) है और सामाजिक परिघटनाओं (सोशल फिनॉमिनॅन) का अपना शिक्षणशास्त्रीय महत्व है । अत: वे मुद्दे जिन्हें सामाजिक पहलू के अन्तर्गत उठाया गया है उनका शिक्षणशास्त्रीय महत्व कम नहीं है और शिक्षणशास्त्र कोई ऐसा क्षेत्र नहीं है जो मात्र कक्षाओं तक परिसीमित हो । लेकिन प्रस्तुतीकरण की सुविधा को ध्यान में रखते हुए दोनों को अलग भागों में दिया जा रहा है ।

3. जेनिफर एम. गोरे. ऑन द लिमिट्स टू एम्पॉवरमेन्ट थ्रू क्रिटिकल एंड फेमीनिस्ट पेडॅगॉगीज, संपादक डेनिस कार्लसन एंड मॉइकल डब्लू. एपल में । पॉवर/नॉलेज/पेडॅगॉगि पृ. 271 - 288. वेस्ट व्यू प्रेस, 1998..... सोशल विजन एण्ड इन्स्ट्रक्शनल प्रैक्टिस आर जोइंट एनालिटिकल कम्पोनेन्टस ऑफ पेडॅगॉगि ।'
4. पाओलो फ्रेरे, उत्पीड़ितों का शिक्षाशास्त्र (पृ. 12). ग्रन्थ शिल्पी प्रा. लि. नई दिल्ली .1996

1. शिक्षणशास्त्रीय पहलू

इस भाग में उन शिक्षणशास्त्रीय मुद्दों को केन्द्र में रखा गया है जो इन पुस्तकों के संदर्भ में उभरे हैं ।

हमने पाया कि बच्चों के बारे में इन पुस्तकों की संकल्पना में एकरूपता है । वे बच्चों को निष्क्रिय प्राणी मानती हैं । पुस्तकें मानव और समाज के बारे में असमतामूलक विचार स्थापित करना चाहती हैं । इनमें अपनाए गए उपागम (अ‍ॅप्रोच) तथा तरीके (मेथडॅ) में भी एकरूपता है । पुस्तकें एकाधिकारवादी उपागम (अ‍ॅथोरिटेरियन अ‍ॅप्रोच) लेकर चलती हैं जिसके लिए वे विवरण तथा निर्देश देने के तरीके अपनाती हैं । इससे पुस्तकों की ज्ञानमीमांसीय धारणा भी उजागर होती है । वे ज्ञान को एकरेखीय (लीनियर) तथा एकल दिशा वाली (यूनीडायरेक्शनल) प्रक्रिया मानकर चलती हैं । हम यह भी पाते हैं कि पुस्तकों में बच्चों तथा समाज के विषय में व्यक्त धारणा एवं अपनाए गए तरीकों में परस्पर सामंजस्य है। इसलिए इन पुस्तकों को किसी मासूम चेतना का परिणाम नहीं माना जा सकता। भूमिका में यह स्पष्ट रूप से कहा गया है कि ये पुस्तकें बच्चों की अपरिपक्वता[5] को ध्यान में रखकर लिखी गई हैं । इस वक्तव्य में विद्यार्थियों के अनुभवों के प्रति असम्मान तथा तिरस्कार का जो भाव है वह सोच समझकर शिक्षकों तक प्रेषित किया जा रहा है । पुस्तकों में यह बताया गया है कि लड़के बाजार से सामान खरीदकर लाते हैं[6] तथा लड़कियां रसोई घर में माँ का हाथ बंटाती हैं ।[7] इस तरह पुस्तकें यह तो स्वीकारती हैं कि बच्चे काम करते हैं, परन्तु इनकी मान्यता है कि अनुभवों से न तो कुछ सीखा जा सकता है और न ही ये अभिव्यक्ति का हिस्सा बनते हैं । क्योंकि इनमें यह जानने की कोशिश नहीं की गई है कि बच्चों के अनुभव क्या हैं ।

पुस्तकों के पाठों में पढ़ने वाले का स्वर (वॉइस) विद्यार्थी तथा वयस्क के बीच बदलता रहता है परन्तु कहीं भी बालिका का स्वर नजर नहीं आता । किताबों में यह मानकर चला गया है कि पढ़ने वाले लड़के होंगे । पुस्तकों द्वारा संबोधन के स्तर पर अपनाई गई संवेदनहीनता बालिकाओं के शिक्षण शास्त्र की दृष्टि से अनुपयुक्त हैं ।

किताबों में वयस्क स्वर निर्देश या विवरण देता हुआ है जिससे पुस्तकानुसार बच्चों के अपरिपक्व होने की मान्यता एक बार फिर उजागर होती है । किताबों की सिखाने की प्रक्रिया पर ध्यान देने से यह ज्ञात होता है कि स्वतंत्र, वैयक्तिक एवं सामाजिक चिन्तन के लिए इस प्रक्रिया में कोई जगह नहीं है । अत: यह बाल मस्तिष्क पर गैर-आलोचनात्मक (नॉन-क्रिटिकल) तथा गैर-विश्लेषणात्मक (नॉन-एनॉलिटिकॅल) ढाँचा खड़ा करने का प्रयास है । यह आकस्मिक नहीं है कि किताबें गैर-संवैधानिक मूल्यों को अपेक्षित एवं प्रशंसनीय रूप में प्रस्तुत करती हैं । क्योंकि जिन कहानियों को ऐतिहासिक[8] मानकर शामिल किया गया है उनसे पदसोपान (हाइअ‍ॅराकि) को पुनर्बलित करने वाले संदेश जाते हैं । यह केवल हमारा व्यक्तिगत विश्वास न होकर एक सामान्य शिक्षणशास्त्रीय सिद्धांत है कि जाति, वर्ग, लिंग, उम्र, भाषा आदि से संबद्ध पद सोपान की मूक स्वीकृति सीखने की प्रक्रिया को बाधित करती है, क्योंकि संवाद एवं सीखने वालों के आत्मसम्मान के बिना सार्थक शिक्षा संभव नहीं है। इन किताबों में विद्यार्थी की भूमिका एक बेजुबान और अधिकार-विहीन ग्राहक की है ।

जहां तक सिखाने के तरीकों का सवाल है, पुस्तकें तीन मुख्य उपकरणों का उपयोग करती हैं - डर[9], उपहास[10] तथा अपराध बोध[11] । इन तीन उपकरणों का सहारा लेकर पुस्तकें ध्रुवीय दृष्टिकोण को पोषित करती हैं, जो कि स्वीकृत तथा अस्वीकृत करने की तकनीक पर आधारित है । पुस्तकें कुछ खास सांस्कृतिक प्रतीकों को वैधानिकता प्रदान करती हैं जिससे उन विद्यार्थियों में अपराधबोध पैदा होता है जो इनमें विश्वास नहीं रखते या इनके अनुसार नहीं चल सकते । बच्चों तथा सांस्कृतिक विविधताओं के प्रति संवेदनहीनता, न सिर्फ दुनिया में मौजूद एवं संभावित विविधताओं को नजरअंदाज करती है बल्कि इन्हें गैर-वैधानिक भी करार देती है । यह तरीका हर उम्र के विद्यार्थियों के लिए अनुचित है । ऐसा लगता है कि ये डर को व्यक्तिगत माध्यम के परे व उसके ऊपर जाकर संस्थाई रूप में स्थापित करने की कोशिश है । जब किताबों में तकनीक के रूप में डर का इस्तेमाल होगा तो इस बात को लेकर फिक्र करने की जरूरत नहीं रह जाती कि शिक्षक अपने व्यक्तित्व से डर पैदा करते हैं या नहीं।

पुस्तकों से ऐसा लगता है कि सामाजिक अस्तित्व तथा व्यक्तिगत अनुभवों में कोई द्वंद या विरोधाभास नहीं है। किताबों की दुनिया में चहुँ ओर भावनाओं व अनुभूतियों का एक सपाट और एकरंगी मैदान है ।

5. पु. 1, 2 प्राक्कथन
6. पु. 1, पृ. 24,
7. वही

8. पु. 1, पृ. 60-64, प्रहलाद भरत, एकलव्य तथा आरुणि की कथायें ।
9. पु.-1, पृ. 42, '... आज उन्हें स्कूल के लिए देर हो गई है । ... अध्यापक जी उन्हें दंड देंगे ।'
10. पु.-1, पृ. 50, 'सब तुम्हारे से खुश रहेंगे और गंदे लड़के पर हंसेंगे ।'
11. पु.-1, पृ. 5-7, 53. 'कई लोग अंडे, मांस-मछली भी खाते हैं । ' 'सदा ही चम्मच और कांटे का प्रयोग करो । अपने हाथ गन्दे मत करो ।'

किताबों में बच्चे, व्यक्ति एवं समाज की संकल्पनाओं और इस्तेमाल की गई तकनीक के बीच में जो सामंजस्य है उससे यह भी ज्ञात होता है कि बच्चों का अनुभव, चिंतन और स्वाभिमान के स्तरों पर उनकी मानवता से अलगाव का प्रयास किया गया है ।

इन पुस्तकों के भाषायी पक्ष को समझने के लिए यह जानना तर्कसंगत होगा कि इस स्तर पर लागू भाषा के पाठ्यक्रमानुसार किन भाषायी कौशलों की अपेक्षा की गई है । एन. सी. ई. आर. टी. द्वारा इन कक्षाओं के लिए प्रकाशित हिन्दी भाषा[12] की पुस्तकों में यह स्पष्ट रूप से कहा गया है कि कक्षा दो के अन्त तक बच्चे पढ़ने में सक्षम हो पाएंगे । इस आधार पर ये पुस्तकें किसी शिक्षणशास्त्रीय समझ का परिचय नहीं देतीं । इन पुस्तकों में प्रयुक्त भाषा तथा वाक्य संरचना का इस स्तर पर भाषा सीखने-सिखाने के उद्देश्यों से कोई तालमेल नहीं है । जाहिर है कि ये पुस्तकें समेकित प्रकार पाठ्यक्रम (टिप्पणी, 1) (इनूटिग्रेटिड टाइप कॅरिक्यूलॅम)[13] के विपरीत ढेर प्रकार पाठ्यक्रम (टिप्पणी,2) (कॅलेक्शॅन टाइप कॅरिक्यूलॅम) [14] का प्रतिनिधित्व करती हैं ।

यहां यह याद रखने की जरूरत है कि इन्हीं पुस्तकों में बच्चों को अपरिपक्व माना गया है । लेकिन पुस्तकों में यह अपेक्षा की गई है कि बच्चे तत्सम शब्दों को पढ़ने एवं समझने में दक्ष होंगे । सतही तौर पर ऐसा लगता है कि पुस्तकों की बच्चे के विषय में धारणा तथा उनसे की जा रही भाषायी अपेक्षा में सामंजस्य नहीं है, लेकिन पुस्तकें जिस तरह के मानव की कल्पना को लेकर सक्रिय हैं उसे ध्यान में रखकर समझने पर इन दोनों में सुसंगतता स्पष्ट हो जाती है । इस प्रकार पुस्तकें शिक्षा को साक्षरता तक सीमित कर गैर-आलोचनात्मक मनस पैदा करना चाहती हैं ।

अपने चरित्र के अनुकूल पुस्तकें विद्यार्थियों पर पसन्द-नापसंद आरोपित करती हैं ।[15] जैसे बस सुविधाजनक होती है,[16] अकेले रहना अच्छा नहीं लगता ।[17] यह शिक्षा के नाम पर झूठी एवं तानाशाही प्रवृत्ति का परिचायक है । शिक्षा के बहाने झूठ पढ़ाए जाने के माध्यम से, झूठी चेतना का निर्माण करने का यह पुखता उदाहरण है । कोई भी शिक्षणशास्त्र, जो शिक्षा की ऐसी परिकल्पना के अनुरूप होगा वह ऐसा ही झूठ अपनाने के लिए बाध्य है ।

हमारी समझ में सामाजिक संदर्भों की प्रकृति-चाहे वह समाजशाास्त्र हो या सामाजिक अध्ययन - इस बात की इजाजत नहीं देती कि उन्हें प्राकृतिक एवं भौतिक मानदंडों के अनुसार परखा जाए। प्राथमिक कक्षाओं में परिवेश अध्ययन में न सिर्फ इस बात की गुंजाइश है बल्कि इस बात की जरूरत भी है कि अनुभवों को केन्द्र में रखा जाये । शिक्षा का अंतिम उद्देश्य चाहे जो भी हो लेकिन हमारे पास इसके अलवा कोई विकल्प नहीं है कि इसकी शुरुआत स्थानीय, व्यक्तिगत एवं निकटतम से हो। इस आधार पर विकसित शिक्षणशास्त्र सीखने-सिखाने की दृष्टि से बेहतर है, क्योंकि इसमें अन्तर्निहित विविधताएं संवाद की संभावनाओं को जन्म देती हैं। इसके विपरीत ये पुस्तकें मानव संबंधी परिघटनाओं को वैज्ञानिक तथ्यों की तरह प्रस्तुत करती हैं । यदि बर्नस्टीन की शब्दावली का उपयोग करें, तो ये न सिर्फ मजबूत वर्गीकरण (टिप्पणी,3) (स्ट्रॉग क्लॉसिफिकेशॅन)[18] का उदाहरण हैं बल्कि हम इनमें मजबूत चौखटा (टिप्पणी, 4) (स्ट्रॉग फ्रेमिंग)[19] भी पाते हैं, जहां विषय वस्तु को सामाजिक अध्ययन में भी बाहर की दुनिया' से बचाकर रखा गया है ।

प्रस्तुत विश्लेषण में विषयवस्तु पर जो कुछ कहा गया है वह तार्किक दृष्टिकोण से गैर-जरूरी प्रतीत हो सकता है, क्योंकि बुनियादी सवाल तो इस बात का है कि प्राथमिक स्तर की प्रारंभिक कक्षाओं में सामाजिक अध्ययन के लिए पाठ्यपुस्तकों की जरूरत है या नहीं? अपने शिक्षण अनुभव तथा राष्ट्रीय स्तर पर अपनाई गई नीति के आधार पर हम कह सकते हैं कि कम से कम पहली दो कक्षाओं में इस प्रकार के विषय की पुस्तकों का होना, न केवल शिक्षण शास्त्रीय दृष्टिकोण से गैर-जरूरी है बल्कि इस स्तर पर पुस्तकें सीखने-सिखाने की प्रक्रिया में अवरोधक का काम भी करती हैं । इन कक्षाओं में पुस्तकों का होना शिक्षकों की स्वायत्तता तथा बौद्धिक स्वतंत्रता को और सीमित करना भी है, जिसके शिक्षणशास्त्रीय प्रभाव अशुभकारी हैं । इस स्तर पर पुस्तकों का उपयोग किया जाना, ज्ञान सृजन की प्रक्रिया को बाधित करता है। ऐसा किया जाना उस दुःखद कहानी की शुरुआत है जिसमें शब्द और पाठ, अनुभव तथा अस्तित्व पर हावी हो जाते है।

12. बालभारती, भाग - 1. अध्यापकों के लिए संकेत एन.सी.ई.आर.टी. 1987.
13. बेसिल बर्नस्टीन. ऑन द फरेमिंग एंड क्लॉसिफिकेशॅन आफ एडूकेशनल नॉलेज. संपादक सुरेश चंद्र शुक्ला एंड कृष्ण कुमार. सोशियोलॉजिकल परस्पेक्टिवस इन एडूकेशन. चाणक्य प्रकाशन. दिल्ली 1985. पृ. 268
14. वही.
15. पु.-1, पृ. 13 पृ. 2, पृ. 10-11.
16. पु.-2, पृ. 10
17. पु.-1, पृ. 13
18. बेसिल बर्नस्टीन. ऑन द फ्रेमिंग एंड क्लॉसिफिकेशॅन आफ एडूकेशनल नॉलेज. संपादक सुरेश चंद्र शुक्ला एंड कृष्ण कुमार. सोशियोलॉजिकल परस्पेक्टिवस इन एडूकेशन. चाणक्य प्रकाशन. दिल्ली 1985. पृ. 268
19. वही.

2. सामाजिक पहलू

2.1 लिंग भेद

इन पुस्तकों में लिंग आधारित भूमिकाओं की झूठी तथा यथास्थितिवादी तस्वीर प्रस्तुत की गई है । इनके पाठों तथा चित्रों में एकसूत्रता दिखाई देती है । पुस्तकों में महिला-पुरुष की सामाजिक भूमिकाओं के संबंध में सही, परिवर्तनकारी या समस्यामूलक विमर्श की ओर इशारा नहीं किया गया है । पुस्तकें एक काल्पनिक समाज का चित्र प्रस्तुत करती हैं जिसमें महिलाएं विभिन्न सांस्कृतिक वर्गों में बंटी हुई नहीं हैं । पुस्तकें मानती हैं कि 'पिता परिवार का मुखिया होता है।'[20] और सारे निर्णय उसी की मर्जी के अनुसार लिये जाते हैं । 'पिताजी परिवार के लिए धन कमाते हैं'[21] और 'माताजी घर में देखभाल करती हैं'[22] तथा भोजन पकाती हैं। पुस्तकों में महिलाओं की भूमिका को घर तक ही सीमित रखा गया है । इनमें महिलाओं द्वारा घर से बाहर निभाई गई किसी भूमिका को मान्यता नहीं दी गई है । पुस्तकें महिलाओं को बाजार से चीजें खरीदते हुए भी नहीं देखना चाहतीं । इसीलिए वे कहती हैं कि 'लड़का बाजार से चीजें आदि लाता है'[23] और 'लड़की रसोईघर में माता की सहायता करती है'।[24] ये पुस्तकें महिलाओं को व्यक्ति की श्रेणी में भी नहीं मानती। पुस्तक कहती है कि 'रात्रि में हर व्यक्ति घर लौट आता है ।[25] 'घर में भोजन तैयार मिलता है ।'[26] यदि हर व्यक्ति बाहर से घर लौटता है तो फिर खाना कौन तैयार करता है ! पुस्तकों के अनुसार आराम तथा मनोरंजन पर भी पुरुषों का हक है । उनके पास खाली समय होता है और इसलिए वे ताश खेलते हैं । लेकिन महिलाओं के लिए खाली समय की कोई कल्पना तक पुस्तकें प्रस्तुत नहीं करतीं । पुस्तकें महिला-पुरुष की भूमिका को लेकर किसी आधुनिक सोच को स्वीकार करने की मनोदशा में नहीं हैं । यहां तक कि पाठों का स्वर भी पुरुष वाचक है।

2.2 मूल्य

पुस्तकें मूल्यों की ऐसी बानगी प्रस्तुत करती हैं जो किसी लोकतांत्रिक समाज के निर्माण की दिशा में अवरोधक हैं । पुस्तकें किसी सामाजिक विमर्श को पनपने से पहले ही समाप्त करने की दिशा में की गई कार्यवाही का उदाहरण हैं । पुस्तकें आदर पाने का हक बड़ा होने[27] को देती हैं। किसी भी लोकतांत्रिक समाज में मात्र 'बड़ा' होना आदरणीय होना नहीं हो सकता । लोकतंत्र में, लोकतांत्रिक मूल्यों की दिशा में उठाया गया कदम ही आदरणीय माना जा सकता है । आदर की धुरी 'बड़े होने' को बनाया जाना लोकतांत्रिक विमर्शों से अलग हटाने की ही कार्यवाही मानी जानी चाहिए । आदर करना सामाजिकता के लिए आवश्यक हो सकता है। लेकिन आदरणीय कौन है, इस प्रश्न पर रुककर विचार करने की आवश्यकता है । बड़े होने का स्वयं में कोई मूल्य नहीं है । बड़े होने को आदर पाने की कसौटी बनाना सामाजिक असमानता को बढ़ाना है । ऐसी कोशिश यथास्थितिवाद की पोषक मानी जानी चाहिए । बड़ों का आदर करने मात्र को महत्वपूर्ण मानकर पुस्तकें बच्चों को आदरणीय की श्रेणी से बाहर रखती हैं । बड़े होने मात्र को आदरणीय मानने से बुद्धि सहजता से ऐसे कार्यों की ओर उन्मुख नहीं हो पाती जो लोकतांत्रिक तथा बेहतर मानवीय समाज के निर्माण में सहायक हों । वर्तमान कानून के अनुसार भी आदरणीय होने की पुस्तक पोषित धारणा तर्कसंगत नहीं है ।

पुस्तकों को बड़ों के सामने 'सिर झुकाने'[28] की शिक्षा दी गई है । इससे स्पष्ट है कि पुस्तकें किन्हीं संप्रदायों की जीवन शैली को सबके लिए अनिवार्य मानती हैं । क्योंकि ऐसे भी संप्रदाय हैं जो किसी मनुष्य के सामने सिर झुकाने के विचार पर विश्वास नहीं रखते। इस तथ्य के बाद भी यदि पुस्तकें इसका अभ्यास करवाती हैं तो इसे संविधान की आत्मा तथा शिक्षणशास्त्रीय नियमों के विरुद्ध माना जाना चाहिए। इस प्रकार का अभ्यास बच्चों को उनके अनुभवों से हटाकर किसी विशेष जीवन शैली की सर्वश्रेष्ठता(सुप्रीमेसी) कायम करने का प्रयोग है, जो बच्चों के हर प्रकार के विकास में बाधक होता है ।

पुस्तकें आदरणीय होने के संबंध में उचित मानक स्थापित नहीं करतीं। उनकी ऐसी ही समझ 'गंदगी' के विषय में दिये गये निर्देशों में भी उभरकर आती है । पुस्तक कहती है कि फेरी वालों से गंदी चीजें खरीदकर नहीं खानी चाहिए ।'[29] इसका अर्थ है कि फेरी वालों के अतिरिक्त कोई गंदी चीज बेच रहा हो तो खरीदी जा सकती है । पुस्तकें गंदी चीजों को पहचानने की समझ विकसित करने के स्थान पर किसी प्राकृतिक घटना की तर्ज पर फेरी वालों तथा गंदी चीजों के बीच कार्य-कारण का साहचर्य (एसोसिएशॅन) स्थापित करती हैं ।

---

20. पु.-1, पृ. 20
21. पु.-1, पृ. 23
22. वही.
23. पु. 2, पृ. 24
24. वही.
25. पु.-2, पृ. 34
26. वही.
27. पु.-1, पृ. 46. 'अपने से बड़ों का आदर करो । उन्हें नमस्कार करो । हाथ जोड़ो और सिर झुकाओ ।'
28. वही
29. पु-2, पृ. 5

पुस्तकों में सफाई की दृष्टि से गंदे बच्चों पर हंसने की प्रेरणा दी गई है ।[30] पुस्तकों को इस सामाजिक सत्य से कोई सरोकार नहीं है कि साफ रहना मात्र वैयक्तिक प्रयास का परिणाम नहीं होता। कुछ लोग साफ रह पाते हैं क्योंकि उनके लिए कुछ और लोग सफाई करते हैं ।[31] बच्चों के सामने यह प्रश्न ही खड़ा नहीं किया गया है कि साफ या गंदा रहना एक सामाजिक परिघटना है । समाज के अधिकांश लोग ऐसे कामों में लगे हैं जहां सफाई के तथाकथित मानदंडों तथा उत्पादन के साधनों में प्रतिद्विन्दता है । ऐसे में पुस्तकों द्वारा पोषित सफाई की अवधारणा, उत्पादक सृजनशीलता का अवैधानिकीकरण (डिलिजिटिमाइस) करने की दिशा में प्रेरित लगती है ।[32] पुस्तकें एक ओर जहां बच्चों को हाथ के काम से बचने की सलाह दे रही हैं वहीं दूसरी ओर मजदूरों, किसानों तथा अन्य कामगारों पर हंसने का अधिकार भी सौंप रही हैं । पुस्तकें सिखाती हैं कि भोजन को हाथ लगाने से हाथ गंदे होते हैं, इसलिए हमेशा चम्मच से खाना चाहिए ।[33] बच्चा किसी काम को जिस तरीके से होते हुए देखता है और जिसका किया जाना स्वयं बच्चे तथा दूसरों को अपराध नहीं लगता, उस काम के प्रति हेय भाव पैदा करना उचित नहीं है । ऐसा करना साधन विहीन बच्चों में हीन होने का बोध पैदा करना है ।

दुनिया में चारों ओर स्वत: कायम रह सकने वाले (सॅसटेनेबल) विकास के तरीकों पर चर्चा हो रही है । लेकिन पुस्तकें हाथ जैसे प्राकृतिक, सहज सॅसटेनेबल तथा दक्ष (एफीसीएन्ट) अंग का उपयोग न करने की सलाह दे रही हैं । पुस्तकें सहज एवं दक्ष संसाधनों को नजरअंदाज करने के साथ-साथ अनावश्यक जरूरतें बढ़ाने को एक मूल्य की तरह से प्रस्तुत करती हैं ।

ये पुस्तकें व्यक्तिवाद के मूल्य का पोषण करती हैं । पुस्तकें बच्चों को सिखाती हैं कि वे अपनी मर्जी से अपना अंग-भंग कर सकते हैं । इस प्रकार पुस्तकें सिखाती हैं कि शरीर तथा उसके नाश करने पर व्यक्ति का अधिकार है । पुस्तकों में प्रस्तुत एकलव्य[34] का प्रसंग व्यक्तिवाद को बढ़ावा देने के साथ-साथ पद्सोपान(हाइॲराकि) में आदेशपालक बनने का समाजीकरण भी करता है । प्रसंग की ऐसी प्रस्तुति किसी सार्थक सामाजिक विमर्श को नहीं जगाती । इसके विपरीत गैर-तार्किक आधिपत्य (हिजेमॅनि) को निर्विवाद रूप से स्वीकार करने की मनोस्थिति को रचने का काम करती है । सवाल यह भी उठता है कि ऐसी कथाओं के चयन का शिक्षणशास्त्रीय तथा संवैधानिक औचित्य क्या है ? किन्हीं ऐतिहासिक चरित्रों में से किसका चुनाव किया जाता है ? उस चरित्र के जीवन से किन प्रसंगों का चुनाव किया जाता है ? वे प्रसंग तथ्यपरक हैं या नहीं? उन चरित्रों तथा उनसे जुड़े प्रसंगों का सामाजिक प्रभाव क्या होगा? ऐसे अनेक सवाल इन पुस्तकों को पढ़ने के बाद उठते हैं । वीर शिवाजी[35] से जुड़े प्रसंग में उनकी महानता की गाथा जिस गुण को लेकर गाई गई है उससे सामाजिक सौहार्द, सामाजिक न्याय के लिए संघर्ष या वृहद मानवीय मूल्यों की दिशा में बढ़ने की प्रेरणा नहीं मिलती । इसके विपरीत वर्तमान राष्ट्रीय परिदृश्य में इस प्रकार के प्रसंग सामाजिक तथा संवैधानिक जीवन के लिए खतरा बन सकते हैं । पुस्तकों में इस बात की भी घोषणा की गई है कि वीर शिवाजी को हिन्दू लोग महान योद्धा मानते हैं । इस घोषणा को दो कोणों से समझने की आवश्यकता है । एक यह कि इस घोषणा में कितनी तथ्यात्मकता है ? तथा दूसरा यह कि इसका उपयोग करके विद्यार्थियों तथा समाज का धार्मिक आधार पर ध्रुवीकरण (पोलॅराइजेशॅन) किया जा रहा है ।

2.3 धर्म

पुस्तकें धर्म आधारित वेशभूषा को रूढ़ तरीके से पेश करती हैं । यह प्रस्तुति अनुभवों के प्रतिकूल है । पुस्तकें पूजा-प्रार्थना करने वालों, पूजा-स्थलों तथा पूजा-पद्धतियों की अव्यावहारिक धारणाओं का आरोपण करती हैं । पूजा-पद्धति तथा स्थान के संबंध में पुस्तकों की धारणा ऐसे वर्ग का प्रतिनिधित्व करती है जिसके पास पर्याप्त मात्रा में खाली समय होता है। क्योंकि समाज का बड़ा वर्ग जरूरी चीजों को जुटाने में इस प्रकार व्यस्त रहता है कि पुस्तक-पोषित पद्धति से उसका कोई सरोकार नहीं हो सकता।[36] पुस्तकों में कुछ लोगों की पूजा-पद्धति को ही स्थान दिया गया है ।[37] ऐसे अनेक समुदाय हैं जिनमें केन्द्रीकृत धार्मिक प्रतीक अस्तित्व में ही नहीं हैं ।[38] कई मायनों में वे समुदाय किसी बड़े समुदाय के हिस्से हैं । लेकिन फिर भी केन्द्रीकृत धार्मिक प्रतीकों का उनकी संस्कृति में कोई स्थान नहीं होता । ऐसे में यदि केन्द्रीकृत धार्मिक प्रतीकों को सबके प्रतीकों के रूप में पेश किया जाता है तो इससे दो निष्कर्ष निकलते

30. पु. 1 पृ. 50 'सदा साफ-सुथरे रहो ।... सब तुम्हारे से खुश रहेंगे और गंदे लडके पर हंसेंगे ।
31. अण्णाभाऊ साठे ''जाल'' (पृ. 27-37), दलित कहानियां में । सं. सूर्यनारायण रणसुभे, कमलाकर गंगावणे, पंचशील प्रकाशन, जयपुर 1981.
32. कान्चा इल्यहा. व्हाई आई एम नॉट हिन्दू, साम्य. कोलकता. पृ. 123
33. पु.-1, पृ. 53
34. पु. -1, पृ. 63 'एकलव्य आज्ञाकारी शिष्य था । उसने खुशी से अंगूठा काट कर गुरूजी को दे दिया।'
35. पु.-2, पृ. 62. '..शिवाजी की माता ने उन्हें गौ और ब्राह्मण की रक्षा का उपदेश दिया था । ... उन्होंने कसाई से कहा - ''गाय को छोड़ दो । मैं तुम्हें धन दूंगा ।'' कसाई न माना । .. शिवाजी उस पर टूट पडे और उसका सिर काट दिया ।'
36. कान्चा इल्यहा. व्हाई आई एम नॉट हिन्दू, साम्य. कोलकता. पृ. 1
37. पु.-2, पृ. 7
38. कान्चा इल्यहा. व्हाई आई एम नॉट हिन्दू, साम्य. कोलकता. पृ. 1

हैं । पहला यह कि पुस्तकें छोटे समुदायों की संस्कृति को महत्वहीन मानती हैं तथा दूसरा यह कि पुस्तकें कुछ प्रतीकों को सबके प्रतीकों के रूप में स्थापित करना चाहती हैं । इससे इन पुस्तकों द्वारा 'संस्कृतिकरण'[39] (टिप्पणी 5) किए जाने के संकेत भी मिलते हैं।

2.4 सामाजिक विमर्श बनाम् प्राकृतिक तथ्य

पुस्तकें सामाजिक मुद्दों की दिशा में बढ़ाने के लिए जिन प्रसंगों का उपयोग कर रही हैं, वे खारिज करने योग्य हैं इसलिए इन प्रसंगों को पढ़ाए जाने की विधि भी विषय की प्रकृति के प्रतिकूल होगी । पुस्तकों में सामाजिक विषयों को, प्राकृतिक-विज्ञान के तथ्यों की तरह प्रस्तुत किया गया है । यदि सामाजिक विषयों को, प्राकृतिक-विज्ञान के तरीकों से पढ़ाया जाता है तो इससे नुकसान सामाजिक-विज्ञानों को ही होता है ।[40] पुस्तकें सामाजिक संदर्भों का विवरण वैज्ञानिक तथ्यों की तरह देती हैं जिससे यह उभरता है कि सभी के लिए प्रत्येक बात एक ही अर्थ रखती है । उदाहरण के लिए 'गाएँ, भैंसे और बकरियां हमें दूध देती हैं । 'घोड़े और बैल बोझ ढोते हैं ।'[41] पुस्तकें सिखाती हैं कि इन जानवरों द्वारा हमें दूध दिया जाना तथा बोझा ढोया जाना एक प्राकृतिक तथ्य है । जैसे इन जानवरों की उत्पत्ति हमें दूध देने या हमारा बोझा ढोने के लिए ही हुई है । पुस्तक का यह विचार अन्य स्थानों पर भी मजबूती के साथ अभिव्यक्त हुआ है ।[42] शारीरिक श्रम पर आधारित विभिन्न व्यवसायों का विवरण प्रस्तुत करते हुए पुस्तकें सिखाती हैं कि 'सब लोग हमारी खूब सेवा करते हैं'। [43] सेवा एक भाव है जिसकी लौकिक मजबूरी के साथ सुसंगति नहीं होती । सेवा के मूल में स्वत: प्रेरणा की शक्ति होती है । लेकिन ये पुस्तकें व्यवसायों को सेवा का रूप देकर सामाजिक विमर्श की स्थिति को उभरने का अवसर समाप्त करती हैं। अनेक लोग अनेक व्यवसायों को सामाजिक ढांचों की रूढ़ता के कारण हताशा में अपनाते हैं । उन व्यवसायों को सेवा के रूप में प्रस्तुत करना यह बताना है कि उन व्यवसायों से जुड़े लोग अपनी स्थिति से खुश हैं और उसमें कोई बदलाव नहीं चाहते ।

पुस्तकों में 'हम' और 'अन्य' के बीच गहरी विभाजक रेखा खींची गई है । 'हम' वे हैं जो सेवा करवाते हैं, 'अन्य' वे हैं जो सेवा करते हैं । हम वे हैं जो 'सब्जियां और फल खाते हैं ।'[44] अन्य वे हैं जो अंडे, मछली और मांस भी खाते हैं ।'[45] पुस्तकों की कोशिश यह है कि 'हम' और अन्यों' का मिलन न हो पाए । हम समूह के लोग दूध, मक्खन, पनीर और घी खाते हैं । वे साधन संपन्न हैं ।[46] इसमें समीक्षात्मक विचार उठने की कोई जगह नहीं बची है। इसके विपरीत जिन बच्चों को साधन संपन्नता धरोहर के रूप में नहीं मिली, उनमें सामाजिक ढांचों को लेकर सवाल उठने के स्थान पर अपराध बोध पैदा होगा । जो बातें सामाजिक विश्लेषण का आधार बन सकती थीं, वे आत्मग्लानि का कारण बनेंगी । इस प्रकार की बातों से अनेक बच्चे वंचित महसूस करने के बजाए बहिष्कृत महसूस करेंगे।

पुस्तकों के मुखपृष्ठ पर एक व्यक्ति का नाम होने के साथ-साथ पुस्तक द्वारा दिए जा रहे मूल्यों से स्पष्ट है कि इनकी निर्माण प्रक्रिया में समाज के कमजोर वर्गों का प्रतिनिधित्व नहीं है । उनका प्रतिनिधित्व होता, तो उनकी आवाज होती । वे कह सकते थे कि जिसे पुस्तकें सेवा कह रही हैं, वह हमारी मजबूरी है चुनाव नहीं । वे कह सकते थे कि हमारी मजबूरी को मजबूरी की श्रेणी में ही रखो, सेवा कहकर इसकी तल्खी एवं ताकत कम मत करो । पुस्तकों के लिखे जाने में एक ही व्यक्ति की भूमिका का होना इस बात को भी दर्शाता है कि पुस्तकों का उद्देश्य बच्चों तथा समाज से संवाद करना नहीं है । पुस्तकें विवरणों (डिस्क्रिप्शॅन) का ढेर बनकर रह गई हैं। इससे यह भी स्पष्ट है कि ये पुस्तकें शिक्षा और ज्ञान को जिज्ञासा की प्रक्रिया नहीं मानतीं। पुस्तकें बच्चों को निष्क्रिय भूमिका में डालकर, उनका अनुकूलन विखंडित दृष्टिकोण को सहजता से आत्मसात करने के लिए करती हैं। पुस्तकें बताती हैं कि 'गांवों की सड़कें कच्ची होती हैं । उन पर यात्रा दु:खदायी है.... नगरों की सड़कें पक्की होती हैं'[47] (ठीक उसी तरह जैसे कुत्ते की चार टांगे होती हैं, हाथी की सूंड होती है ।)। इसके स्थान पर यदि यह कहा गया होता कि गांव की सड़कें कच्ची बनाई जाती हैं । इसलिए उन पर यात्रा तकलीफ देह होती है, और नगरों की सड़कें पक्की बनायी जाती हैं इसलिए उन पर यात्रा आरामदायक होती है, तो संदेश देने तथा सोचने की दशा-दिशा में अन्तर पड़ता । निसंदेह इस प्रकार के प्रसंगों में बच्चों के अनुभवों को केन्द्र में रखकर चर्चा करना उत्तम होगा । बच्चों से कहा जा सकता है कि वे इन प्रसंगों पर परिवार वालों की राय भी समझें, क्योंकि शब्द अभिव्यक्ति का उपकरण मात्र नहीं हैं । शब्द चिंतन और कर्म दोनों को प्रभावित करते हैं ।

पुस्तकें किसी वस्तु व्यक्ति तथा स्थिति के बारे में या तो वर्णन[48] (टिप्पणी, 6) (डिस्क्रिप्शन) देती हैं या निर्देश[49]

39. एम. एन. श्रीनिवास, आधुनिक भारत में जातिवाद तथा अन्य निबंध (पृ. 45-66) मध्य प्रदेश हिन्दी ग्रंथ अकादमी, भोपाल 1992 ।
40. एफ. ए. हैय्क. काउन्टर रिवोल्यूशॅन ऑफ साइंस. द फ्री प्रैस. यू. एस. ए. 1952 पृ. 4.
41. पु.-2, पृ. 26, 38
42. पु. -2, पृ. 46
43. वही.
44. पु. 2 पृ. 36.
45. पु.-1, पृ. 5, 6. पु. 2, पृ. 36.
46. पु. -1, पृ. 4,5, 15
47. पु.-2, पृ. 13
48. पाओलो फ्रेरे. उत्पीडितों का शिक्षाशास्त्र (पृ.33) ग्रन्थ शिल्पी प्रा. लि. नई दिल्ली ।
49. वही. (पृ.48, 49).

(टिप्पणी, 7) (प्रेसक्रिप्शन)। ये दोनों संकल्पनाएं गैर-आलोचनात्मक मानस तैयार करने में महत्वपूर्ण भूमिका निभाती हैं । वे विवरण देती हैं कि 'ईश्वर सर्वशक्तिमान् है। वह दुष्टों को मार कर अपने भक्तों की रक्षा करता है।'[50] वे निर्देश देती हैं कि 'तुम से गलती हो जाए तो क्षमा मांगो।'[51] विवरणों और निर्देशों के बीच पुस्तकें किसी समस्यात्मक विषय वस्तु को स्थान नहीं देतीं । इससे यह निष्कर्ष निकलता है कि ये पुस्तकें बच्चों को कर्ता[52] (टिप्पणी, 8) (सब्जेक्ट) के रूप में विकसित होने का अवसर न देकर वस्तु रूप (आब्जेक्ट) में निर्मित करना चाहती हैं। यह निष्कर्ष पुस्तकों के प्राक्कथनों में लिखी उस बात से भी पुष्ट होता है जिसमें बच्चों को अपरिपक्व माना गया है । ऐसी धारणा का स्रोत संवाद में अविश्वास रखने वाला एवं संवादहीनता को आदर्श समाज मानने वाला मस्तिष्क ही हो सकता है । ऐसा मस्तिष्क खामोशी की संस्कृति[53] (टिप्पणी, 9) की जड़ों में पोषक तत्व डालने का काम करता है।

निष्कर्ष

- पुस्तकें झूठ तथा गैर-तथ्यात्मक (सामाजिक-प्राकृतिक) आधारों पर रची गई हैं।
- ये पुस्तकें संस्कृतियों का हस्तांतरण तक नहीं करतीं ।
- विषय की प्रकृति तथा पढ़ाए जाने के तरीकों में एकरूपता (कोहरेन्स) की अनुपस्थिति शिक्षणशास्त्रीय दृष्टि से अनुपयुक्त है ।
- पुस्तकें संवाद के प्रति सचेत नहीं है, वे इसलिए अवलोकन को अनुभव तथा चिन्तन में रूपान्तरित करने के अवसर खो देती हैं।
- ये पुस्तकें डर जैसी भावनाओं का संस्थायीकरण करने का ठोस उदाहरण हैं ।
- स्कूल में मजबूत वर्गीकरण (स्ट्रॉग क्लॉसिफिकेशॅन) तथा मजबूत चौखटे (स्ट्रॉग फरेमिंग) की प्रवृत्ति समाजीकरण की ऐसी निरंतर प्रक्रिया को प्रोत्साहित करती हैं जो विभिन्न संस्कृतियों के बीच संवाद की संभावना क्षीण कर सकती हैं ।
- पुस्तकों ने असंवैधानिक तथा गैर-शिक्षणशास्त्रीय समझ के साथ विद्यार्थियों की दुनिया में सेंध लगाई है ।
- शिक्षा जगत में उन नीतिगत फैसलों को बचाये रखने की जरूरत है जो अच्छी समझ तथा संघर्षों का परिणाम हैं।

अन्त में हम यह सवाल भी उठाना चाहेंगे कि क्या पाठ्यपुस्तकों को बाजार की मनमानी (ऑबिट्रॅरिनेस) या राज्य के उस रवैये पर, जो कि अपनी संवैधानिक भूमिका एवं दायित्वों के प्रति उदासीन है, छोड़ा जाना चाहिए ?

50. पु. 1 पृ. 60.
51. पु. 1, पृ. 43
52. पाओलो फ्रेरे. उत्पीडितों का शिक्षाशास्त्र (पृ.6) ग्रन्थ शिल्पी प्रा. लि. नई दिल्ली. 1996.
53. वही. (पृ.102).

टिप्पणियाँ:

1.समेकित प्रकार पाठ्यक्रम - अब मैं ढेर प्रकार के विपरीत ऐसा पाठ्यक्रम रखना चाहूंगा जहां भिन्न विषयवस्तुएं अपने अलग रास्ते नहीं जातीं, परन्तु जहां विषयवस्तुओं का आपसी संबंध खुला है । ऐसे पाठ्यक्रम को मैं समेकित प्रकार का पाठ्यक्रम कहूंगा ।

2. ढेर प्रकार पाठ्यक्रम - यदि विषयवस्तुओं का आपसी संबंध न हो, या यह कहें कि विषयवस्तुओं में स्पष्ट विभाजन हो और वे एक दूसरे से पृथक हों तो मैं ऐसे पाठ्यक्रम को ढेर प्रकार का कहूंगा । (पृष्ठ 268)

3. वर्गीकरण – जहां वर्गीकरण मजबूत है वहां विषयवस्तुओं का मजबूत सीमाओं द्वारा अच्छी तरह से पृथक्कीकरण है । जहां वर्गीकरण कमजोर है वहां विषयवस्तुओं के बीच पृथक्कीकरण कम होता है क्योंकि विषयवस्तुओं के बीच की सीमाएं कमजोर या धुंधली होती हैं । अत: वर्गीकरण विषयवस्तुओं के मध्य सीमा बनाए रखने की हद की ओर संकेत करता है । (पृष्ठ 268)

4. चौखटा – 'चौखटे' का प्रत्यय संदेश प्रणाली और शिक्षाशास्त्र की संरचना को निर्धारित करने के लिए प्रयोग किया गया है । ... चौखटा, शिक्षक/शिक्षिका और विद्यार्थी के विशिष्ट शिक्षणशास्त्रीय संबंध की ओर इशारा करता है । ... चौखटा शिक्षण शास्त्रीय संबंध में क्या हस्तांतरित किया जा सकता है और क्या हस्तांतरित नहीं किया जा सकता है, के बीच सीमा की मजबूती की ओर इशारा करता है । ... जहां चौखटा मजबूत है वहां, क्या हस्तांतरित किया जा सकता है और क्या नहीं, के बीच की सीमा स्पष्ट है और जहां चौखटा कमजोर है वहां यह सीमा धुंधली है ।

चौखटा विकल्पों के उस प्रसार की ओर हमारा ध्यान खींचता है जो शिक्षक/शिक्षिका और विद्यार्थी को शिक्षणशास्त्रीय संबंध के संदर्भ में यह नियंत्रित करने के लिए उपलब्ध हैं कि क्या हस्तांतरित होगा और क्या ग्रहण । मजबूत चौखटे में विकल्पों का कम होना तथा कमजोर चौखटे में विकल्पों का अधिक होना अपरिहार्य है । (पृष्ठ 269)

5. संस्कृतिकरण – 'सामान्य तौर पर संस्कृतिकरण के द्वारा एक जाति प्रस्थिति क्रम में उच्चता की ओर बढ़ती है' (पृ. 47) ।

'यह काफी हद तक इस कारण हुआ कि हिन्दू समाज अनेक संकुचित दायरों में बंटा है, जिसमें अनगिनत छोटे-छोटे समूह हैं जो उच्च समूह कहलाने के लिए प्रयत्नशील रहते हैं । और उच्चता का अधिकार जताने का सर्वश्रेष्ठ तरीका है कि ऊंची जाति की प्रथाएं और जीवन प्रणालियां अपना लेना । और चूंकि यह प्रक्रिया सबसे ऊंची जाति को छोड़ शेष सभी में चल रही थी । अत: ब्राह्मण प्रथायें

और जीवन प्रणालियाँ सभी हिन्दुओं में फैल गयीं। यह भी संभव है कि इन नीची जातियों द्वारा ब्राह्मणी जीवन-प्रणाली अपनाने पर लगे निषेध का ही यह उलटा असर हुआ ।' (पृ. 47)

'विवाह तथा यौन-संबंधों के क्षेत्र में 'नीची' जातियों की प्रथाएँ ब्राह्मणों की अपेक्षा उदार हैं । लड़कियों के विवाह बड़ी आयु में भी किये जाते हैं; विधवाओं को सिर नहीं मुंडाना होता, विवाह-विच्छेद तथा विधवा विवाहों की स्वीकृति है और वे होते रहते हैं । सामान्य तौर पर इनके यौनाचार एवं विवाह के मामलों में सर्वोच्च जातियों, विशेष रूप से ब्राह्मण की तुलना में, स्त्रियों के प्रति कठोरता नहीं बरती जाती । पर जैसे ही जाति अपनी स्थिति से ऊपर उठने की चेष्टा करती है उसके कार्यकलाप अधिक सांस्कृतिक हो जाते हैं । वह यौन-संबंध तथा विवाह में ब्राह्मणों के आचार-नियम अपना लेती है । संस्कृतिकरण के परिणाम स्त्रियों के प्रति कठोर रहे हैं ।' (पृ. 49)

'वैवाहिक संबंधों पर संस्कृतीकरण का विशिष्ट प्रभाव पड़ा है। जैसे- ब्राह्मण में स्त्री से अपने पति को देवता मानने के लिए कहा गया है । केवल असाधारण स्थिति में कोई पत्नी अपने पति के पूर्व भोजन करती है और कट्टर परिवारों में अभी भी पत्नी अपने पति द्वारा उपयोग में लायी गयी झूठी पत्तल में ही खाना खाती है । साधारण तौर पर ऐसी पत्तलें छुई नहीं जातीं क्योंकि छूने से हाथ अपवित्र होते हैं । स्त्रियां पत्तलों को उठाने के बाद उस स्थल को गोबर से लीपती हैं और हाथ धोती हैं । पर पति ने जो पत्तल छोड़ी है उसमें खाने में कोई अपवित्रता नहीं होती, उसे जूठन नहीं समझा जाता।' (पृ. 50)

यहां हम संस्कृतिकरण का अन्य अर्थ लेने की छूट चाहते हैं। ये पुस्तकें संस्कृति विशेष के दायरे में लाकर बच्चों को उनकी सांस्कृतिक विरासतों से अनभिज्ञ बना रही हैं, ताकि उनका सांस्कृतिक आधार कमजोर हो और उनके सामने संस्कृति विशेष के निर्देशों को अपनाने तथा आत्मसात करने के अतिरिक्त कोई रास्ता न रह जाए।

6. वर्णन - 'वर्णन, छात्रों को वर्णित वस्तु को यांत्रिक ढंग से रट लेने की ओर ले जाता है । इससे बुरी बात यह है कि वह छात्रों को 'पात्र' या बर्तन बना देता है, जिन्हें शिक्षक द्वारा भरा जाना होता है । जो इन पात्रों को जितना ज्यादा भर सके, वह उतना ही अच्छा शिक्षक । जो जितने ज्यादा दब्बूपन के साथ स्वयं को भरने दें, वे उतने ही अच्छे छात्र ।' (पृ. 33)

7. निर्देश - 'मनुष्य खामोशी में नहीं, बल्कि शब्द में, कार्य में, कर्म और चिंतन में निर्मित होते हैं । एक सच्चा शब्द बोलना- जो कार्य है, आचरण है - विश्व का रूपांतरण करना है । लेकिन उस शब्द को बोलना कुछ थोड़े से लोगों का विशेषाधिकार नहीं, बल्कि प्रत्येक मनुष्य का अधिकार है । परिणामत: कोई व्यक्ति सच्चे शब्द को अकेला नहीं बोल सकता-न ही वह उस शब्द को किसी और के लिए बोल सकता है । जो दूसरों से उनके शब्द छीन लेता है, निर्देश के रूप में तो, सच्चा शब्द उससे बोला ही नहीं जा सकता ।' (पृ. 48-49)

8. कर्ता - 'कर्ताओं' का अर्थ है ऐसे मनुष्य, जो जानते हैं और कर्म करते हैं; उन मनुष्य रूपी वस्तुओं से वे भिन्न होते हैं, जिन्हें जाना जाता है और जिन पर कर्म किया जाता है ।' (पृ.6)

9. खामोशी की संस्कृति - फ्रेरे के शिक्षा दर्शन में *शवप्रेम* का विशेष अर्थ है । वह मनोविज्ञान का शब्द है । अंग्रेजी में इसके लिए 'नेक्रोफीली' का प्रयोग किया जाता है जिसका शाब्दिक अर्थ है शव के प्रति मोह । दूसरे शब्दों में कहें तो मनुष्य की वह मानसिक अवस्था है, जब उसे 'निर्जीवता से लगाव' हो जाता है । वह जीवन को जड़ता में बदलने लगता है । वह अपने परिवेश और शासितों का निर्जीवीकरण करना आरंभ कर देता है । इस तरह का शवकामी बन जाता है ।'

शवकामुकता यानी शवप्रेम की अवधारणा को भारतीय संदर्भ में समझने के लिए बिहार की एक घटना का उल्लेख प्रासंगिक रहेगा। बिहार के पलामू जिले के मनातू विकास प्रखंड का एक जागीरदार था । उसके पास दो-दो पालतू बाघ तथा हथियारबंद गुमाश्तों की टुकड़ी थी । उसने अपनी इस ताकत के बल पर 10-12 गांवों के दलित खेतिहर श्रमिकों को 'बेगार' करने वालों का रूप दे रखा था । जागीरदार के आतंक के कारण इन सभी गांवों में ***'खामोशी की संस्कृति'*** फैली हुई थी । मानव-बस्तियां 'कब्रिस्तान' में रूपांतरित कर दी गई थीं । जागीरदार और दलित इंसानों के बीच केवल आतंक एवं उत्पीडन ही संवाद के माध्यम थे । बाहरी दुनिया से इन गांवों का कोई संबंध नहीं था । जागीरदार शासक को दलित शासितों की इस आरोपित मृतावस्था में 'आनंद की अनुभूति' हुआ करती थी । संक्षेप में, जब उत्पीड़क वर्ग समाज में 'अंकुरण' की संभावनाएं नष्ट करने लगता है, वहीं से निर्जीवीकरण की प्रक्रिया आरंभ हो जाती है और वह 'शवकामी' बन जाता है । (पृष्ठ 102)। ◆

(अनुवाद लेखकों द्वारा)